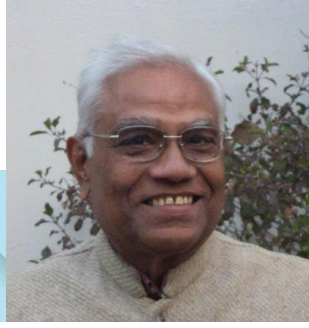

राष्ट्रीय शिक्षा नीति के लिए शिक्षा आयोग

शरद चन्द्र बेहार

भारत सरकार ने 26 जनवरी, 2015 को एक नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति बनाए जाने के लिए प्रक्रिया की शुरुआत की थी। कहा गया था कि भारत सरकार "लोगों की गुणवत्तापरक शिक्षा, नवाचार और अनुसंधान सम्बन्धी आवश्यकता के परिवर्तनशील पहलुओं से निपटने के लिए नई शिक्षा नीति लाना चाहती है, जिसका उद्देश्य विद्यार्थियों को आवश्यक कौशल व ज्ञान प्रदान करके भारत को ज्ञान के क्षेत्र में महाशक्ति बनाना और विज्ञान, प्रौद्योगिकी, शिक्षा एवं उद्योग-जगत में श्रमशक्ति की कमी को दूर करना होगा।" जैसा कि खण्डन-मण्डन के लहजे में राजनीतिज्ञ करते ही हैं, यह ऐलान भी किया गया कि "पहली बार भारत सरकार धरातल पर समयबद्ध परामर्श की प्रक्रिया की शुरुआत कर रही है जिससे मानव संसाधन विकास मंत्रालय को 2.5 लाख से भी अधिक सीधे परामर्शों के माध्यम से देश भर में लोगों तक व्यक्तिगत पहुँच बनाने में मदद मिलेगी जबकि नागरिकों से ऑनलाइन प्रतिक्रियाएँ भी ली जाएँगी।" (मानव संसाधन विकास मंत्रालय, 2015)।

खण्डन-मण्डन को जारी रखते हुए पहले की शिक्षा नीतियों के बनाए जाने की प्रक्रिया की आलोचना यह कहते हुए की गई है कि उनका नजरिया 'ऊपर से नीचे का' था, जो 'धरातल पर काम करने वालों और हितधारकों से मिले सीमित फीडबैक पर निर्भर' था, परामर्श और सलाह-मशविरा 'मुद्दा-आधारित, और चर्चाएँ बिल्कुल अलग-थलग-पृथक खाँचों' में होते थे और इसके लिए '6 महीने से 3 साल तक का समय लिया जाता था'। इसके बरअक्स दावा यह था कि अब नीति-निर्धारण 'नीचे से ऊपर' , 'समयबद्ध' और 'समावेशी, सहभागिता व सम्पूर्णता के दृष्टिकोण' के साथ होगा (वही)।

नई शिक्षा नीति बनाने जैसे विषय के सन्दर्भ में खण्डन-मण्डन का नजरिया बुनियादी तौर पर समस्याग्रस्त है। इसमें स्वयं को दूसरे से बेहतर या अच्छा साबित करने का नजरिया झलकता है और पिछली नीतियों के प्रति पूर्वाग्रह का संकेत मिलता है। तर्कसंगत आशंका उत्पन्न होती है कि इस नई पहलकदमी के पीछे का उद्देश्य सच में गम्भीरता से ऐसी शिक्षा नीति विकसित करने का है जो एक दीर्घकालिक नीति के लिए उस सबको ध्यान में रखे जो ध्यान में रखे जाने की जरूरत है या फिर इसका उद्देश्य राजनीतिक है? जब हम ऊपर किए गए प्रत्येक दावे को जाँचते हैं तो इस आशंका को और अधिक बल मिलता प्रतीत होता है। लेकिन क्योंकि खण्डन-मण्डन का निशाना पहले की नीतियाँ हैं, आइये सर्वप्रथम हम स्वतंत्र भारत में नीति-निर्धारण के इतिहास पर एक संक्षिप्त नजर डालते हुए पहले की दो राष्ट्रीय शिक्षा नीतियों पर विशेष ध्यान दें।

भारत में शिक्षा नीति के निर्धारण का संक्षिप्त इतिहास

स्वतंत्रता के बाद, और संविधान सभा द्वारा पूरी गम्भीरता से संविधान बनाए जाने की प्रक्रिया के दौरान भी, सरकार का ध्यान शिक्षा की ओर गया था। उस समय देश की औपनिवेशिक स्थिति के विरुद्ध जबरदस्त प्रतिक्रिया थी, जिसमें अभी हाल ही में परिवर्तन हुआ था। ऐसा महसूस किया गया था कि अँग्रेजों द्वारा भारत का केवल कच्चे माल के उत्पादक के तौर पर आर्थिक शोषण इसलिए सम्भव हो पाया था कि ब्रिटेन एक औद्योगिक अर्थव्यवस्था थी। इसलिए मुख्य बल आत्म-निर्भरता पर था, जिसके लिए विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी और उच्च शिक्षा को महत्वपूर्ण माना गया था। तदनुसार, 1948 में डॉ. राधाकृष्णन की अध्यक्षता में विश्वविद्यालयी शिक्षा पर आयोग का गठन किया गया, जिसकी रिपोर्ट अगस्त, 1949 में आ गई। इसकी सिफारिशों को तो लागू किया गया था लेकिन उच्च शिक्षा पर कोई औपचारिक शिक्षा नीति नहीं बनाई गई।

1952 में डॉ. लक्ष्मणस्वामी मुदलियार की अध्यक्षता में एक और आयोग गठित किया गया, जिसने 1953 में माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन एवं बेहतरी के लिए अपनी रिपोर्ट दी। एक बार फिर, अनुशंसाओं को तो लागू किया गया लेकिन औपचारिक नीति नहीं बनी।

आजाद भारत में पहली सम्पूर्ण, व्यापक नीति 1968 में शिक्षा आयोग (जिसे आमतौर पर कोठारी आयोग के नाम से जाना जाता है) की अनुशंसाओं के आधार पर बनी। यह आयोग 1964 में गठित किया गया था। इसमें विदेशी विशेषज्ञों समेत 15 सदस्य थे जिनमें अध्यक्ष प्रो. डी.एस. कोठारी, सदस्य सचिव जे.पी. नाइक और युनेस्को से लिए गए एक सहायक सचिव शामिल थे। 12 कार्य-दल बनाए गए, जिन्हें विशेष

मुद्दों पर रिपोर्ट प्रस्तुत करने के लिए कार्यकारी समूहों और उपसमूहों में बाँटा गया। इनमें विदेशों से 20 परामर्शदाता भी थे। इन समूहों की राष्ट्रपति, उप-राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री, मुख्य-मंत्रियों, और भारत सरकार व राज्य सरकारों के विभिन्न मंत्रालयों के सचिवों समेत कई शिक्षाविदों, वैज्ञानिकों, संसद एवं राज्य-विधानसभाओं के सदस्यों, उद्योगपतियों और पत्रकारों के साथ लाभदायक चर्चाएँ और बैठकें हुईं।

1966 में कमेटी द्वारा अपनी रिपोर्ट जमा करवाए जाने के बाद भारत सरकार ने इसका सार प्रकाशित किया और एक बार फिर हितधारकों एवं संसद सदस्यों के साथ व्यापक परामर्श किया। लम्बी चर्चाओं के बाद मंत्रीमण्डल द्वारा मसौदा अनुमोदित कर 1968 में जारी कर दिया गया (नाइक, 1997)।

1977 में पहली गैर-काँग्रेस सरकार द्वारा दूसरी शिक्षा नीति बनाने की एक नाकाम कोशिश हुई। 'हमारे लोगों की शिक्षा' के शीर्षक की रिपोर्ट 'लोगों की, लोगों के लिए, लोगों द्वारा शिक्षा' की समझ पर आधारित थी और 1968 की नीति से बहुत ही अलग थी। 1979 में नीति का प्रारूप तैयार किया गया लेकिन जनता सरकार में आन्तरिक मतभेदों के चलते यह पहल आगे नहीं बढ़ सकी।

1986 की राष्ट्रीय नीति के लिए एक अलग प्रक्रिया अपनाई गई। अगस्त, 1985 में 'शिक्षा की चुनौतियाँ' शीर्षक से एक दस्तावेज कई भाषाओं में सोच-विचार और प्रतिक्रियाओं के लिए जारी किया गया। यह देखने लायक बात है कि दस्तावेज सरकार की असफलताओं और आगे आने वाली विशाल चुनौतियों के बारे में बहुत ही ईमानदारी से बात करता है। लेकिन इसमें सोच-विचार-चर्चाओं और अनुशंसाओं की कोई हदें तय नहीं की गई थीं। देशव्यापी बहसों, चर्चाओं, सोच-विचार, सम्मेलनों, गोष्ठियों और परामर्शों के नतीजों ने संसद में प्रस्तुत की गई नीति के मसौदे के लिए सुझावों का काम किया। इसके बाद प्रक्रिया शुरू होने के एक साल के भीतर 1986 में नीति को अन्तिम रूप दिया गया।

लेकिन यह भी वह अन्तिम नीति नहीं है जो हमारे सामने है। नीति को जारी किए जाने के कुछ ही समय बाद काँग्रेस पार्टी आम चुनावों में पराजित हुई और वी.पी.सिंह के नेतृत्व में एक मिली-जुली सरकार बनी। नई सरकार ने आचार्य राममूर्ति की अध्यक्षता में नीति पर पुनर्विचार के लिए कमेटी गठित की। इस कमेटी की सिफारिशों को गम्भीरता से लिया जाता तो एक बिल्कुल ताजा शिक्षा नीति की आवश्यकता रहती या कम से कम काफी हद तक संशोधन होता। लेकिन मिली-जुली सरकार गिर गई और नए चुनाव में काँग्रेस के नेतृत्व में एक और मिली-जुली सरकार आ गई। आचार्य राममूर्ति कमेटी की रिपोर्ट की जाँच के लिए श्री वीरप्पा मोएली की अध्यक्षता में एक कमेटी बनाई गई। 1986 की शिक्षा नीति काँग्रेस सरकार द्वारा तैयार की गई थी, जो अब फिर से सत्ता में आ गई थी, इसलिए यह कदम एक औपचारिकता भर था, और बस कुछेक छोटे बदलावों की सिफारिश की गई। इन संशोधनों को अन्ततः संसद ने 1992 में पारित कर दिया। इसीलिए तकनीकी तौर पर इसे शिक्षा की राष्ट्रीय नीति, 1986 (संशोधित 1992) कहा जाता है।

ध्यान देने की बात है कि हालाँकि 1968 और 1986, दोनों शिक्षा नीतियों का अनुमोदन या तो किसी संसदीय कमेटी द्वारा या फिर स्वयं संसद द्वारा किया गया था, दोनों को ही एक और नीति के द्वारा बदल दिए जाने का खतरा था, लेकिन वे बाल-बाल बच गईं। इससे शिक्षा नीतियों की राजनीतिक तौर पर अस्थिर प्रकृति उजागर होती है।

नीति बनाने की मौजूदा प्रक्रिया की पड़ताल

अब हम इन दावों की पड़ताल करते हैं कि मौजूदा प्रक्रिया तीन वजहों से बेहतर है : कि यह मुद्दा-आधारित और अलग-थलग-पृथक खाँचों में होने की बजाए व्यापक और सम्पूर्ण है, नीचे से ऊपर को चलती है और समयबद्ध है।

पहले दो दावों की काट तो इस बात से हो जाती है कि परामर्श के लिए 33 मुख्य विषय-बिन्दुओं (13 स्कूली शिक्षा पर और 20 उच्च शिक्षा पर) का खाका खींचा गया है – इसके निहितार्थ हैं कि परामर्श विषय-आधारित है न कि सम्पूर्णता में। जब केन्द्रीय स्तर से धरातल पर काम करने वालों को सीमित, संकुचित विषय दिए जाते हैं जिससे वे विशेष पहलुओं से सम्बद्ध प्रतिक्रियाओं से बँधे रहते हैं तो इस नजरिए को नीचे से ऊपर जाने वाला नहीं कहा जा सकता। पिछली नीतियों से पहले व्यापक परामर्श और मशविरों को ध्यान में रखें तो यह दावा भाषणबाजी अधिक लगता है।

आइये, अब समयबद्ध प्रक्रिया होने के दावे को देखें। नई शिक्षा नीति के विकसित होने की प्रक्रिया के पूरे होने के लिए 2015 के अन्त का समय तय किया गया था। अप्रैल, 2017 के मध्य तक भी नीति अपने अन्तिम रूप में कहीं दिखाई नहीं दे रही। स्पष्ट है कि नीति बनाए जाने की प्रक्रिया का समयबद्ध तरीके से काम करने का दावा भी सही नहीं है। यानी वर्तमान प्रक्रिया परामर्श-सम्बन्धी भूतपूर्व प्रक्रियाओं से बेहतर या विशिष्ट है, इससे सम्बद्ध तीनों दावे खरे नहीं उतरते। इसके अलावा यह दर्शाने के लिए भी प्रमाण मौजूद हैं कि लागू किए जाने की बात तो छोड़िए, परामर्श की प्रक्रिया का डिजाइन ही तीनों दावों पर खरा नहीं उतरा। आइये, इस प्रक्रिया पर एक नजर डालते हैं।

परामर्श की औपचारिकता व रस्म अदायगी और समय सीमा पर जोर देने के परिणामस्वरूप ग्राम पंचायत स्तर के परामर्श व्यवस्थाबद्ध एवं कड़े नियन्त्रण में हुए। जिन्हें ग्रामीण लोगों और गाँव, खण्ड व कुछ हद तक जिला के स्तर पर जमीनी काम करने वाले कार्यकर्ताओं और जन प्रतिनिधियों को सुनने का अनुभव है, वे उनकी अभिव्यक्ति की शैली से परिचित होंगे – ये स्वयं के अनुभवों और अप्रासंगिक मुद्दों से बात शुरू कर के धीरे-धीरे उन गम्भीर और असली मुद्दों पर आते हैं जिन पर वे बल देना चाहते हैं। यह इसलिए होता है क्योंकि उनका ज्ञान और सीखना अनुभव-आधारित होता है – इसीलिए वे शुरुआत अपने अनुभव से करते हैं और उसके बाद उससे प्राप्त अन्तर्दृष्टि तक जाते हैं। उन्हें सीमित मुख्य विषयों और प्रौद्योगिकी की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए चंद शब्दों तक सीमित कर दिया जाना इस दावे से मेल नहीं खाता है कि परामर्श अलग-थलग-पृथक तरीके से नहीं हुआ और नीचे से ऊपर की गति में हुआ।

जहाँ तक 20 जनवरी, 2015 से 30 अप्रैल, 2015 (तारीख बाद में आगे सरका दी गई) तक ऑनलाइन परामर्श की बात है, यह प्रक्रिया स्वाभाविक रूप से ही सीमित करने वाली है क्योंकि इसके लिए तकनीकी ज्ञान और सुविधा का होना आवश्यक है।

नई शिक्षा नीति का मसौदा तैयार करने के लिए एक कमेटी का गठन अक्तूबर, 2015 में किया गया था, लेकिन इसके नाम को बदल कर 'नई शिक्षा नीति विकसित करने के लिए एक कमेटी' कर दिया गया। यह स्पष्ट था कि मंत्रालय कमेटी द्वारा सिफारिश किए जाने वाले मसौदे से अलग एक मसौदा तैयार करने की स्वतंत्रता अपने पास रखना चाहता था। कमेटी ने अपनी रिपोर्ट मई, 2016 में जमा करवा दी लेकिन सरकार ने उसे सार्वजनिक करने से इनकार कर दिया। अध्यक्ष और मानव संसाधन विकास मंत्री के बीच गहरे मतभेद थे और विवाद भी, जिससे बचा जा सकता था। रिपोर्ट को औपचारिक तौर पर सार्वजनिक नहीं किया गया है, हालाँकि अध्यक्ष ने उसे खुले मन से साझा किया है और वह न्यूपा (एन.यू.ई.पी.ए.) की वैबसाइट पर उपलब्ध है।

इसके बाद, जून, 2016 में मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा एक दस्तावेज जारी किया गया जिसे मसौदा कहे जाने में अब भी हिचकिचाहट थी और इसे 'प्रस्तावित शिक्षा नीति के लिए कुछ इनपुट्स' का नाम दिया गया। इस दस्तावेज पर प्रतिक्रियाएँ और सुझाव सितम्बर, 2016 के अन्त तक माँगे गए। इस अन्तिम तिथि को एक महीना और आगे तक कर दिया गया। नौकरशाहों बनाम शिक्षाविदों की राजनीति तब उभर कर आई जब नए मानव संसाधन विकास मंत्री ने ऐलान किया कि मसौदा तैयार करने के लिए शिक्षाविदों की एक कमेटी का गठन किया जाएगा। यह कमेटी अभी बननी है।

इस प्रक्रिया के दौरान का सम्पूर्ण घटनाक्रम शपीरो एवं अन्य के इस विचार को स्वीकार करने के लिए काफी आधार प्रदान करता है कि इस प्रकार की परामर्श-प्रक्रियाएँ 'प्रभुत्वशाली ताकत को वैधता प्रदान करने से अधिक कुछ नहीं हैं' (मैक्कॉनेल, 2010)। शिक्षाविदों की नई कमेटी बन भी जाती है तो इसमें देश का विश्वास बनने की सम्भावना कम ही है क्योंकि यह भी पहले वाली ही दिशा में लिया गया एक और कदम दिखाई देगा।

इस परिदृश्य में इस अपरिहार्य निष्कर्ष को नकारना मुश्किल लगता है कि कमेटी और मंत्रालय द्वारा साझा किए गए ये दोनों दस्तावेज मार्शल, मिचल एवं वर्ट (1991) द्वारा 'कल्पित-संसारों' में स्थित हैं। लेखक इस धारणा को इस प्रकार व्याख्यायित करते हैं : "प्रत्येक राज्य के नीति-निर्माण परिदृश्य में स्पष्ट तौर पर भिन्न-भिन्न संस्कृतियाँ होती हैं। नीति-निर्माता इन संस्कृतियों में समाजीकृत होते हैं व इनके

साथ सही और उपयुक्त की साझा समझ रखते हैं। राज्य के नीति-वातावरण की विशिष्ट-प्रकृति की संस्कृतियाँ प्रत्येक राज्य में प्रमुख कर्ताओं के बोध को प्रभावित करती हैं। ये बोध नीति सम्बन्धी सुसंगत विकल्पों, अपेक्षित व्यवहारों और रीतियों से सम्बद्ध होता है। बोध के इस पर्दे को हम 'नीति-निर्धारकों के कल्पित संसारों' के रूप में व्याख्यायित करते हैं।' लेखक, यंग को उद्धृत करते हुए नीति-निर्धारकों के कल्पित संसारों की व्याख्या 'जिस वातावरण में काम किया जाता है, उसकी आत्मनिष्ठ समझ' के रूप में करते हैं, जिसमें 'मौजूद यथार्थ के प्रतिक्रियास्वरूप विश्वास, बोध, मूल्यांकन व मंशा के परस्पर मिश्रित कई तत्व' शामिल रहते हैं। सम्भावना यही है कि सरकार यानी प्रभुत्वशाली शक्ति द्वारा बनाई गई कोई भी कमेटी अपनी मान्यताओं, बोध और विचारधाराओं के आधार पर नीति बनाएगी और इसमें राष्ट्रीय आम राय की कम ही झलक मिलेगी।

यह वृत्तान्त इसलिए महत्वपूर्ण है कि यह नीति के बन्द कमरों में बनने की अफवाहों के लिए एक पृष्ठभूमि प्रदान करता है। समस्या सरकार द्वारा अपनी इच्छा की शिक्षा नीति विकसित करने में नहीं है। लोकतांत्रिक तरीके से चुनी गई सरकार को न केवल अधिकार है बल्कि उसका दायित्व भी है कि वह अपनी घोषित विचारधारा के अनुरूप चले। इस सामान्य सिद्धान्त को मानते हुए मौजूदा सरकार को पूरा अधिकार है कि वह अपनी विचारधारा की संगति में शिक्षा नीति बनाए, बशर्ते कि वह इस बात के लिए तैयार है कि उसके सपनों के भविष्य के समाज की परिकल्पना को शामिल करने वाली नीति अन्य पार्टियों के सत्ता में आने पर एक अलग तरह के समाज की परिकल्पना वाली उनकी नीति के लिए स्थान छोड़ देगी। यदि ऐसा वे खुले तौर पर करें तो लुके-छिपे तरीके से कुछ करने की कोशिश को लेकर उनकी आलोचना न हो। लेकिन इसके बजाय वे एक समावेशी, सहभागी, सम्पूर्णता लिए हुए, नीचे से ऊपर की ओर जाने वाले नजरिए का अनुकरण करने की घोषणा कर रहे हैं क्योंकि वे जानते हैं, और यह सार्वभौमिक तौर पर माना जाता है, कि शिक्षा कई तरह से समाज और राज के किसी भी अन्य क्षेत्र से अलग है। इसलिए शिक्षा नीति के निर्माण के लिए एक अलग नजरिए की जरूरत होती है।

अब तक हुई चर्चा के आधार पर कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :

1. शिक्षा के नीति-निर्माण का बहुत अधिक राजनीतिकरण हुआ है। यह एक समस्या है क्योंकि एक औसत राजनीतिज्ञ पर्याप्त हद तक 'शिक्षा में साक्षर' नहीं होता। क्योंकि 'राजनीतिज्ञों और शिक्षाविदों में बहुत ही कम संवाद' रहता है (नायक, 1997)। शिक्षा का इतना ऊँचे दर्जे का राजनीतिकरण केवल भारत तक सीमित नहीं है; ओल्सन एवं अन्य (2004) के मुताबिक 'एक वक्त था जब शिक्षा नीति को एक नीति के तौर पर महत्व ही नहीं दिया जाता था ..... स्पष्ट है कि अब ऐसा नहीं है। आज शिक्षा नीतियाँ काफी विवाद और सार्वजनिक संघर्ष के केन्द्र में हैं.....। शिक्षा नीति के निर्माण का अत्यधिक राजनीतिकरण हो गया है' (बेल एण्ड स्टीवन्सन, 2006 से उद्धृत)।
2. शिक्षा की राष्ट्रीय नीति का किसी विशेष विचारधारा के आधार पर बनाया जाना राष्ट्रहित में नहीं है। यह राष्ट्रीय आम राय पर आधारित होनी चाहिए। भारत का संविधान समकालीन राष्ट्रीय आम राय को प्रतिबिम्बित करता है। इसलिए नई शिक्षा नीति के लिए इसे ही निर्देशक सिद्धान्त और कम्पास (दिक्सूचक) का काम करना चाहिए।

सीधा सबक यह है कि नई शिक्षा नीति का बनना अपने आप में एक बहुत ही जटिल, समय लेने वाली, बहुआयामी, कई परतें लिए हुए, चिन्तनशील, और बहुत ही बौद्धिक प्रक्रिया है। इसके बहुत ही गहरे, व्यापक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक अर्थ हैं जिनके बारे में पहले से कुछ कहा नहीं जा सकता। इस विशाल कार्य के साथ न्याय करने के लिए इसके सिवा कोई विकल्प नहीं है कि सभी विचारधाराओं के लोगों को सम्मिलित करते हुए एक शिक्षा आयोग गठित किया जाए ताकि राष्ट्रीय आम राय को विश्वसनीयता के साथ प्रतिबिम्बित किया जा सके।

21वीं सदी के लिए शिक्षा नीति का निर्माण

20वीं सदी के अन्तिम दशकों को छोड़ दें तो सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक व्यवस्था के लिए ढाँचा प्रदान करने

वाले और व्यापक तौर पर दुनिया के आदर्शों व आकांक्षाओं को अपने रंग में भिगोने वाले प्रभावी एवं प्रतिस्पर्द्धी दर्शनों को हम मोटेतौर पर लोकतांत्रिक उदारवाद के साथ-साथ एक कल्याणकारी राज्य और अलग-अलग रंगों के समाजवाद के चौखटे में रख सकते हैं। बहुत व्यापक रूप में देखें तो भारतीय संविधान को लोकतांत्रिक उदारवाद और कल्याणकारी राज्य की परम्परा में अवस्थित किया जा सकता है जिसके साथ ही साथ समाजवाद को संयोजित करने की एक कोशिश की गई है; और भी अधिक सटीक व्याख्या शायद फेबियन समाजवाद की होगी। यह कहना शायद बहुत गलत न होगा कि कोठारी आयोग की रिपोर्ट मोटे तौर पर इसी दार्शनिक चौखटे में थी और इसलिए उसमें से निकलने वाली 1968 की नीति उसी में जड़बद्ध थी।

1986 की नीति और 1968 की नीति के साथ उसके रिश्ते का गहरा अध्ययन हमें इस निष्कर्ष की ओर ले जाता है कि दोनों के दर्शनशास्त्रीय और विचारधारात्मक आधार एक से हैं, यानी लोकतांत्रिक उदारवाद, कल्याणकारी राज्य की अवधारणा और काफी हद तक समाजवाद का संयोजन। 1986 की नीति कई तरह से व्यापक दर्शनशास्त्रीय और सैद्धान्तिक स्तर पर 1968 की नीति का पुन: साक्षात्कार करवाती प्रतीत होती है - अभिपुष्टि के लिए, न कि बदलाव के मकसद से।

बीसवीं सदी के अन्त के समीप एक फलती-फूलती समाजवादी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था के ठोस उदाहरणों को एक धक्का लगा जिससे दर्शन की इस विधा पर सवाल उठे और एक बहस छिड़ी जो अब तक भी जारी है। इसी समय उदारवाद में भी एक बदलाव नव-उदारवाद के रूप में सामने आया जिसके साथ ही नव-पूँजीवाद और नव-उपनिवेशवाद भी आया। इस परिदृश्य को अकसर निजीकरण और उदारवाद के साथ भूमण्डलीकरण के रूप में व्याख्यायित किया जाता है।

अधिकतर चिन्तक और विवेकी पर्यवेक्षक इस बात पर सहमत हैं कि भारत के शासक-वर्ग ने भारत की अर्थव्यवस्था को नई वैश्विक व्यवस्था में जड़ने की रणनीति को बजाहिर पूरे मन से अपना लिया है, फिर चाहे कोई भी राजनीतिक दल सत्ता में क्यों न हो। काफी संख्या में बुद्धिजीवी, जागरूक नागरिक, सामाजिक कार्यकर्ता एवं राजनीतिक नेता इस रुझान का सख्त विरोध करते हैं लेकिन अब तक इनकी संख्या इतनी नहीं है कि नीति को प्रभावित कर सकें।

शिक्षा नीतियाँ शून्य में नहीं बनाई जातीं बल्कि राष्ट्रीय लक्ष्यों, अभिलाषाओं, जरूरतों और सपनों में जड़ी होती हैं। मौजूदा स्थिति में जब एक ओर संविधान के जरिए घोषित लक्ष्यों और दूसरी ओर व्यवहार में लागू की जाने वाली नीतियों एवं कार्यक्रमों में इतनी चौड़ी दरार है, तो शिक्षा नीति का उद्गम क्या माना जाए?

आजाद भारत में दीर्घकालीन शिक्षा नीतियाँ किसी न किसी आयोग की सिफारिशों के आधार पर बनाई गई हैं। उच्च शिक्षा पर पहली नीति, हालाँकि उसे औपचारिक तौर पर राष्ट्रीय नीति के रूप में घोषित नहीं किया गया था, डॉ. राधाकृष्णन आयोग की सिफारिशों पर आधारित थी। उसका प्रभाव अब भी महसूस किया जाता है। इसी तरह माध्यमिक शिक्षा पर दीर्घकालीन नीति और उसका बड़े पैमाने पर पुनर्गठन डॉ. मुदलियार आयोग की सिफारिशों पर आधारित था। जैसा कि 1989 में सकरोपूलोस ने कहा था, औपचारिक नीतियाँ न बनाए जाने का एक कारण सम्भवत: यह हो सकता है कि 'बीस साल पहले जिसे शैक्षिक आयोजना कहा जाता था, शिक्षा नीति शायद उसी का समकालीन पर्याय है'(ज़ाजदा, 2002 से उद्धृत)।

ऊपर की चर्चा को ध्यान में रखें तो शिक्षा आयोग के गठन की सिफारिश के लिए दिए गए कारण बाध्य करने वाले हैं। इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि आयोग का गठन सोचते-समझते हुए इस तरह से हो कि समकालीन दौर की राजनीति से अति-प्रभावित दुनिया में विभिन्न दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व हो पाए, ताकि उसकी रिपोर्ट राष्ट्रीय आम राय का सही और उचित प्रतिबिम्ब होने का दावा कर सके। आयोग को पर्याप्त समय देना चाहिए ताकि सोच-विचार, अध्ययन, लम्बे और व्यापक परामर्श के बाद वह देश के सामने एक रिपोर्ट रखे जिस पर आगे और भी विमर्श हो।

ऐसे आयोग का पहला कदम शिक्षा के मौजूदा परिदृश्य को प्रस्तुत करने वाले तार्किक दस्तावेज के रूप में होना चाहिए जिसमें 1992 में संशोधित 1986 की नीति की विषयनिष्ठ और

समावेशी समालोचना, देश और मानवता के समक्ष चुनौतियाँ, आदर्श विश्व-समुदाय और भारतीय समाज का हमारा लक्ष्य, शिक्षा की परिकल्पित भूमिका और उसके लिए आवश्यक नीति-परिदृश्य शामिल हों। जैसे कि डॉबिनसन सुझाते हैं, "शिक्षा को मानवता के समक्ष बड़ी से बड़ी समस्याओं को सुलझाने में अपनी उचित भूमिका निभाने का प्रयास करना चाहिए" (ज़ाजदा, 2002 से उद्धृत)। नीति को इस कोशिश के सामंजस्य में होना चाहिए।

शिक्षा और समाज के लिए सबसे निर्णायक एवं मुख्य मुद्दों को चर्चा, वाद-विवाद और सुझावों के लिए खुला रखा जाना चाहिए। इन्हें अलग-अलग तरह से चिह्नित किया गया है – शिक्षा और मानव पूँजी, विश्व-नागरिकता और राष्ट्रीय पहचान, स्वायत्तता, जवाबदेही और विकल्प, या नीति-विषयों के तौर पर सबसे ऊपर रखे जाने वाले समानता और समता के मुद्दे। "सामाजिक स्तरीकरण को बनाए रखने में राज्य की हेर-फेर वाली भूमिका" को ध्यान में रखते हुए सामाजिक असमानता को भी एक महत्त्वपूर्ण विषय के तौर पर सुझाया गया है (बेल एवं स्टीवन्सन, 2006)। शिक्षार्थियों की बदलती और व्यापक होती जरूरतों को ध्यान में रखने वाली नई रणनीतियाँ, सामाजिक-आर्थिक शैक्षिक असमानताएँ, शैक्षिक गुणवत्ता, शिक्षा और संस्कृति में सामंजस्य एवं सुसंगतता,अन्तरराष्ट्रीय सहयोग, वयस्क शिक्षा के प्रति नए दृष्टिकोण आदि साहित्य की समीक्षा से निकलने वाले मुख्य विषयों में से कुछेक विषय हैं (ज़ाजदा, 2002)। ये सब नीति-निर्माण में निश्चित तौर पर बहुत ही व्यापक और महत्त्वपूर्ण हैं।

पिछली नीति को बने 30 साल से भी अधिक हो गए हैं। जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं तो वे कारण और अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं जिनकी वजह से इन विषयों पर विचार किया जाना चाहिए – 21वीं सदी में बनने वाली पहली नीति को युगप्रवर्तक होना होगा, खेल के स्वरूप को बदलने वाला होना होगा। किसी भी नई शिक्षा नीति को विवादों, विरोधाभासों और वैचारिक संघर्षों से भरे इस परिदृश्य का सामना करना होगा। इन अत्यधिक जटिल और कई परतों वाले बुनियादी मुद्दों पर स्पष्ट दृष्टि के बिना कोई भी अर्थपूर्ण शिक्षा नीति नहीं बन सकती।

नीति के लिए आम राय बनाना

एक निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए आम राय विकसित करने के सन्दर्भ में ब्रोड्बेल्ट सुझाते हैं कि जब एक देश के नीति-सम्बन्धी लक्ष्यों में 'मिथक और तथ्य' सहमति में होते हैं, तब ही वह देश 'अपनी आदर्श शिक्षा व्यवस्था' तक पहुँचता है (ज़ाजदा, 2002 से उद्धृत)। विभिन्न देशों की संस्कृतियों पर भूमण्डलीकरण के प्रभाव पर एक गहरी टिप्पणी करते हुए मितर सावधान करते हैं कि 'आर्थिक, प्रौद्योगिकीय और वैज्ञानिक भूमण्डलीकरण के वर्तमान रुझानों और इसके बरअक्स सांस्कृतिक विविधता के प्रति नवजागृत जागरूकता' से शिक्षा के लिए नई अनिवार्य आवश्यकताएँ और नतीजे निकले हैं। वर्तमान और भविष्य 'सार्वभौमीकरण और सांस्कृतिक बहुलतावाद' के सन्दर्भ में '[एक ओर] विश्व-व्यवस्था सिद्धान्त के सन्देशों और [दूसरी ओर] सांस्कृतिक विविधता को मानव-इतिहास की एक स्थाई संरचना मानने वाले सिद्धान्तों के बीच' एक लाभदायक सन्तुलन ढूँढना होगा (ज़ाजदा, 2002 से उद्धृत)। ये दोनों विराट एवं दुःसाध्य काम – एक ओर तो संविधान द्वारा आदेशित लक्ष्यों और सामाजिक व्यवस्था के मिथक एवं सरकारों द्वारा दी जा रही असंगत नीतियों के तथ्य का एक जगह आकर मिलना, और दूसरी ओर सार्वभौमीकरण एवं सांस्कृतिक विविधता के बीच सन्तुलन बैठाना – तब ही किए जा सकते हैं जब हर तरह की राजनीतिक विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने वाले प्रतिष्ठित व्यक्तियों से लैस एक सही अर्थों में शक्ति-सम्पन्न शिक्षा आयोग बने, जो वास्तव में राष्ट्रीय आम राय को प्रतिबिम्बित करे।

मक्कॉनल सुझाते हैं कि 'नीति के नतीजे अक्सर' सफलता और असफलता के दो बिल्कुल सिरे के छोरों के बीच और 'सफलता, लचीली सफलता, संघर्षशील सफलता, डाँवाँडोल सफलता और असफलता के वर्णक्रम के साथ-साथ होते हैं।' वे यह भी कहते हैं कि मूल्यांकन यह 'चिह्नित करने के लिए होना चाहिए कि किन बातों को तो और मजबूत किया जा सकता है और किन कमियों को दूर करने की जरूरत है।' अन्तर्दृष्टि से पूर्ण इस बहुत ही दिलचस्प टिप्पणी के साथ कि 'असफलता सफलता का दर्पण-प्रतिबिम्ब है', निर्णय लेने का मुख्य मानदण्ड इस रूप में प्रस्तुत किया गया है कि

अगर निर्धारित 'लक्ष्य पूरे नहीं होते तो नीति असफल है।' राजनीतिक कारणों के चलते सरकारों से यह आशा नहीं की जा सकती कि उनका मूल्यांकन और विश्लेषण वस्तुपरक होगा। इसके अलावा, समालोचना पर राष्ट्रीय आम राय भी होना होगी और इसके लिए सभी हितधारकों के साथ परामर्श की वाजिब प्रक्रिया भी आवश्यक है। इस वजह से स्थिति और भी अधिक जटिल हो जाती है कि शिक्षा नीति के विकसित होने का समयकाल लम्बा होता है। यदि हम प्राइमरी-पूर्व और माध्यमिक शिक्षा को शामिल करें और उच्च शिक्षा को छोड़ दें तो एक ही दस्ते के सहचर बच्चों पर शिक्षा नीति के प्रभाव के मूल्यांकन के लिए कम से कम 14 साल का समय चाहिए। इससे भी अधिक संख्या में बच्चों पर इसका असर देखने के लिए तो और भी अधिक समय की दरकार होगी। ऐसा काम एक व्यापक आधार वाले आयोग द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

मक्कॉनल (2010) नीति-मूल्यांकन के लिए मानदण्ड साझा करते हैं और मूल्यांकन की भूमिका और प्रक्रियाओं पर समकालीन रचनाओं को उद्धृत करते हैं। एक बड़े, पूर्ण-विकसित आयोग से ही यह आशा की जा सकती है कि वह नीति पर हर तरह के सैद्धान्तिक और अनुभवपरक काम को अपने दायरे में लेते हुए पिछली नीति को मूल्यांकित करेगा और एक अधिक विश्वसनीय नीति बनाएगा।

ऐसी समालोचना को वर्तमान वैश्विक एवं राष्ट्रीय परिस्थिति व रुझानों के समग्र और स्पष्ट विश्लेषण में अवस्थित करना होगा, जिसके आधार पर शिक्षा नीति के सामने आने वाले भविष्य के विभिन्न सम्भावित परिदृश्यों का निर्माण होना होगा, और इससे भी महत्त्वपूर्ण उस परिदृश्य की रूपरेखा है जिसमें प्रस्तावित नीति का योगदान रहेगा।

एक और बहुत महत्त्वपूर्ण पक्ष है कि 21वीं सदी में शिक्षा की राष्ट्रीय नीति बनाने के लिए वैज्ञानिक प्रमाण, अनुसंधान-आधारित ज्ञान, अनुभवपरक अध्ययन और सफल प्रयोगों से हासिल सबक, कार्यक्रमों, मार्गदर्शी प्रोजेक्टों और गहनता से किए गए प्रयोगों-परीक्षणों को वस्तुपरक तरीके से मूल्यांकित किया जाना और ध्यान में रखना होगा। यह तब ही हो सकता है अगर तथ्यों के संग्रहण, मिलान, समीकरण और उनसे नीतियाँ बनाने के लिए एक व्यापक आयोग हो।

कई विषय-क्षेत्रों में ज्ञान का एक बहुत बड़ा भण्डार है जिसके शिक्षा के विभिन्न पहलुओं पर दूरगामी निहितार्थ हो सकते हैं। बाइबर (2012) इस ओर इशारा करने में बहुत सही हैं कि अन्य के मुकाबले कुछ विषय-क्षेत्र नजरों में अधिक रहते हैं जबकि कई विषय-क्षेत्रों से सम्बद्ध अदृश्य-बिन्दु महत्त्वपूर्ण तरीके से नीति-निर्माण में योगदान दे सकते हैं। न्यूरो-साइंसिस, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, सामाजिक-जीवविज्ञान एवं कई अन्य विषय-क्षेत्र काफी आगे तक विकसित हुए हैं और उस नए शैक्षिक आदर्श के लिए नई अन्तर्दृष्टि प्रदान करते हैं जो नीति द्वारा प्रस्तुत किया जाना चाहिए। एक सही तौर से लैस शिक्षा आयोग ही इनसे और दर्शनशास्त्र, नैतिकशास्त्र, ज्ञानशास्त्र आदि से कुछ न कुछ ग्रहण करते हुए शोध एवं प्रमाण-आधारित शिक्षा नीति का वैज्ञानिक सोच के साथ निर्माण कर सकता है।

आज की अत्यधिक प्रतिस्पर्द्धात्मक दुनिया में विभिन्न देशों की राष्ट्रीय नीतियों से लाभदायक अन्तर्दृष्टियाँ मिल सकती हैं। हाल्पिन और ट्रोएना (1995) अन्धानुकरण के विरुद्ध चेतावनी देते हैं लेकिन यह भी कहते हैं कि 'किसी अन्य देश के नीति-समाधानों के कुछ चिह्नित हो सकने वाले पहलुओं में से कुछ उधार लेने की बात, जिसमें उन्हें लागू करने के तरीके शामिल हों, तब अधिक मुमकिन है जब विभिन्न शिक्षा व्यवस्थाओं की विशेषताओं और सुधार की हिमायती प्रभुत्वशाली राजनीतिक विचारधाराओं के बीच कुछ सामंजस्य हो।' सावधानीपूर्वक मूल्यांकन और सामंजस्य बैठाते हुए अनुकूलन के लिए समय और एक शक्ति-सम्पन्न आयोग की आवश्यकता रहती है।

अब जबकि प्रक्रिया रुकी ही हुई है तो यह बहुत ही उचित होगा कि भारत सरकार 21वीं सदी का पहला शिक्षा आयोग स्थापित करने के बारे में गम्भीरता से सोचे, जिसमें कुछ विदेशी विशेषज्ञों के अलावा हर तरह के विचार और नजरिए के लोग हों। शिक्षा के अति महत्त्वपूर्ण क्षेत्र को केवल शिक्षाविदों या अफसरों के सहारे छोड़ना सही नहीं होगा, फिर वे कितने ही प्रतिष्ठित क्यों न हों।

निष्कर्ष

एक व्यापक आधार वाला शिक्षा आयोग 21वीं सदी में एक ऐसी शिक्षा नीति की बुनियाद के लिए आवश्यक है, जो नई

वैश्विक होती आर्थिक व्यवस्था और उसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय व्यवस्था के अनुरूप हो – या फिर उसके विरोध में हो। इसी प्रक्रिया में वह या तो नवउदारवादी दर्शन में निहित मूल्यों के संयोजन एवं वैश्वीकरण में उसकी ठोस अभिव्यक्ति को और संवैधानिक मूल्यों एवं उद्देश्यों को रचनात्मक रूप से निर्मित करेगी या उनमें से एक को रद्द करेगी।

मेरा मानना है कि बुद्धिमता का पलड़ा भारी रहेगा और विचारधारात्मक पूर्वाग्रह वाली शिक्षा नीति का अचानक उभार नहीं होगा। अधिक सम्भावना तो शायद यही है लेकिन अगर यह उभार होता है तो यह जानने के लिए सूचना के अधिकार का खुले तौर पर प्रयोग होना चाहिए कि नीति और हितधारकों द्वारा अभिव्यक्त उन विचारों के बीच का क्या रिश्ता है, जिन्हें हासिल किए जाने के बारे में सरकार द्वारा दावा किया जाता है। यह लगभग पक्का है कि उन दोनों के बीच या तो कोई रिश्ता होगा नहीं और अगर होगा भी तो बहुत ही विरल और इकहरा होगा, जिससे लोग सवाल उठा पाएँगे कि यह राष्ट्रीय आम राय से भिन्न क्यों है। साथ ही वे एक व्यापक आधार वाले आयोग के हक में दलील दे पाएँगे, जिसके लिए ऊपर दृढ़ता से बात रखी गई है।

Bibliography

1. Naik, J.P. (1997). The Education Commission and after. Delhi: APH Publishing Corporation
2. MHRD (2015). Manual for grass-root level consultation on new education policy. New Delhi: Ministry of Human Resource Development
3. McConnell, A. (2010). Policy success, policy failure and grey areas in-between. Journal of Public Policy, Vol. 30, No. 3, pp. 345-362
4. Marshall, C., Mitchell, D.E., Wirt, F. (1991). Assumptive worlds of education policy makers. Peabody Journal of Education, Vol. 62, No. 4, pp. 90-115
5. Bell, L. and Stevenson, H. (2006). Education Policy: Process, Themes and Impact. London: Routledge
6. Zajda, J. (2002). Education and policy: Changing paradigms and issues. International Review of Education, Vol. 48, No. 1/2, pp. 67-91
7. Biber, E. (2012). Which science? Whose science? How scientific disciplines can shape environmental law. The University of Chicago Law Review, Vol. 79, No. 2, pp. 471-552
8. Halpin, D., Troyna, B. (1995). The politics of education policy borrowing. Comparative Education, Vol. 31, No. 3, pp. 303-310

शरद चन्द्र बेहार अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन के बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स के सदस्य हैं। वे मध्य प्रदेश सरकार के भूतपूर्व मुख्य सचिव हैं। वे शिक्षा के क्षेत्र से गहरे तौर पर जुड़े रहे हैं और शिक्षा, सार्वजनिक प्रशासन एवं अन्य सामाजिक सरोकारों पर उनके 150 से अधिक आलेख प्रकाशित हुए हैं। वे शैक्षिक शोध एवं नवाचारी कार्यों के क्षेत्र में सक्रिय स्वयंसेवी संस्था 'एकलव्य' के संस्थापक निदेशक हैं और गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर के संस्थापक उपकुलपति रहे हैं। सेवानिवृत्ति के बाद वे माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता विश्वविद्यालय के उपकुलपति भी रहे। उनसे behar@azimpremjifoundation.org या sharadbehar@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।

अनुवाद : रमणीक मोहन, **अनुवाद सम्पादन :** हिमालय तहसीन